व्यक्तिवाद और व्यक्ति की भूमिका के बारे में कुछ सैद्वान्तिक बातें

इस पत्रिका के पिछले अंक में हमने व्यक्तिवाद की क्रांतिकारी आंदोलन में मौजूद विभिन्न अभिव्यक्तियों की चर्चा की थी। साथ ही व्यक्तिवाद के सामाजिक व वैचारिक आधार की भी चर्चा की थी। हमने बताया था कि किस तरह से व्यक्तिवाद हमारे आंदोलन के समक्ष मौजूद चुनौतियों में से एक है। इस चुनौती का सामना इसके पूंजीवादी वैचारिक आधार पर तीखे हमले तथा हमारे आंदोलन के वर्गीय आधार को बदल कर किया जा सकता है। हमने बताया था कि हमारे देश के क्रांतिकारी आंदोलन में व्यक्तिवाद की मौजूदगी की वजह इसका निम्न पूंजीवादी वर्गीय आधार है। हमने कहा था कि व्यक्तिवाद जैसी गम्भीर बीमारी से लड़ने के लिए किसी कम्युनिस्ट संगठन के लिए यह आवश्यक है कि सर्वहारा विचारधारा पर दृढ़तापूर्वक खड़े होने के साथ–साथ उस संगठन में प्रत्येक स्तर पर सर्वहारा वर्ग की भौतिक उपस्थिति हो।

इस बार हम व्यक्तिवाद के बारे में सैद्वान्तिक चर्चा करेंगे। व्यक्तिवादी विचारधारा क्या है तथा यह इतिहास में कैसे प्रकट होती है? क्यों कर इसकी उत्पत्ति और विकास पूंजीवाद के साथ होता है? विभिन्न वर्गों से इसका क्या रिश्ता है। साथ ही इस बात पर भी चर्चा है कि इतिहास में किसी व्यक्ति की क्या भूमिका है तथा उसका मूल्यांकन कैसे किया जाना चाहिए?

I

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। और फिलहाल समाज वर्गों में बंटा हुआ है। वर्गीय समाज में मनुष्य किसी न किसी वर्ग के सदस्य के रूप में जीवन व्यतीत करता है। यही चीज किसी व्यक्ति के विचारों, मूल्यों आदि का निर्धारण करती है। किसी व्यक्ति की वैयक्तिकता या व्यक्ति विशेष की विशिष्टता इस बात से निर्धारित होती है कि वह किन सामाजिक सम्बन्धों में बंधा हुआ है। इन सामाजिक सम्बन्धों के तहत वह किस हैसियत से जीवन जी रहा है। उसका व्यक्तित्व, उसके विचार, मूल्य, आदर्श आदि सभी उसके भौतिक परिवेश द्वारा निर्धारित हो रहे होते हैं।

वैयक्तिकता **(Individuality)** के गुण को मानव जगत में नहीं बल्कि पूरे प्राणी जगत में भी देखा जा सकता है। एक प्राणी का दूसरे प्राणी से भिन्न होना उसे वैयक्तिकता प्रदान करता है। यही बात किसी वस्तु, किसी परिघटना पर भी लागू होती है। इस बात का अर्थ यह है कि वैयक्तिकता हमेशा बनी रहेगी। जो बात जीवन जगत, वस्तुओं, परिघटना आदि पर लागू होती है वही बात मानव समाज पर भी लागू होती है। मानव समाज में वैयक्तिकता समाज के विकास के सापेक्ष भिन्नता रखती है। भिन्न–भिन्न समाजों में वैयक्तिकता भिन्न–भिन्न होती है। दास समाज में एक किस्म की तो पूंजीवादी समाज में दूसरे किस्म की तथा साम्यवादी समाज में भिन्न किस्म की होगी। इन समाजों के भीतर भी हर मनुष्य की वैयक्तिकता दूसरे से भिन्न होगी।

वैयक्तिकता **(Individuality)** मानव समाज का एक तथ्य है। एक सच्चाई है। इसे अस्वीकार करने अथवा समाप्त करने का प्रयास प्रतिक्रियावादी या फासिस्ट शासकों की मूर्खतापूर्ण सनक या कार्यवाही हो सकती है। वैयक्तिकता और व्यक्तिवाद (या व्यष्टिवाद) **(Individualism)** को एक नहीं समझा जाना चाहिए।

यहां यह सीधा सवाल उठना लाजिमी है कि फिर व्यक्तिवाद क्या है?

व्यक्तिवाद एक ऐसा विश्वदृष्टिकोण है जो अपने सारतत्व में अथवा अपने विश्लेषण के निष्कर्ष के रूप में समाज के विरुद्व व्यक्ति अपने विश्लेषण के निष्कर्ष के रूप में समाज के विरुद्व व्यक्ति को निरपेक्ष रूप से वरीयता देता है। ऐसा होते समय वह किसी विशेष समाज व्यवस्था की बात करने के स्थान पर सामान्य रूप से समाज की बात करता है।

व्यक्तिवाद अपने आपको वास्तविक जीवन के आचरण, नैतिक व्यवहार के साथ–साथ विभिन्न किस्म की दार्शनिक, वैचारिक, राजनीतिक, नीति शास्त्रीय अमूर्त अवधारणाओं में अभिव्यक्त करता है।

एक विशिष्ट किस्म का व्यक्तिवाद तो मानता है कि मनुष्य स्वाभाविक तौर पर असामाजिक **(antisocial)** या गैर सामाजिक **(a social)** प्राणी है। यह समाज व्यवस्था को मानव स्वभाव के खिलाफ मानता है। समाज व्यवस्था मनुष्य की स्वतंत्रता में बाधक है। इसे किस्म–किस्म के बन्धनों में बांधती है। अतः मनुष्य की स्वतंत्रता का तकाजा है कि व्यक्ति पर समाज व्यवस्था, राज्य, कानून द्वारा आरोपित सीमायें व बन्धन न हों।

व्यक्तिवाद पूंजीवाद पूर्व समाजों में जन्म नहीं ले सकता था। इन समाजों में व्यक्ति स्वतंत्र नहीं होता था। वह अपनी सामाजिक पहचान या संरचना का अभिन्न अंग होता था। उसकी कोई स्वतंत्र व्यक्तिपरक पहचान नहीं हो सकती थी। हमारे समाज में सामन्ती काल में व्यक्ति जाति से ही पहचाना जाता था। और जाति एक निश्चित पेशे से जुड़ी हुयी थी। पेशा आधारित इस पहचान से व्यक्ति की कोई अपनी पृथक पहचान नहीं हो सकती थी।

इन समाजों में व्यक्ति अविकसित और अपरिपक्व होता था। व्यक्ति का विकास इस हद तक नहीं हुआ था कि उसका कोई व्यक्तिवाद हो। व्यक्तिवाद का जन्म और विकास ऐसे समाजों में नहीं हो सकता था जहां व्यक्ति स्वतंत्र न हो। जहां पर व्यक्ति की स्वतंत्रता या उसके व्यक्तित्व की पहचान के लिए आवश्यक सामाजिक, सांस्कृतिक व ऐतिहासिक तौर पर परिपक्व परिस्थितियां न तैयार हो गयी हों।

ऐसी परिस्थितियां पूंजीवाद के जन्म और विकास के साथ ही अस्तित्व में आयी। सामन्ती, धार्मिक व मध्ययुगीन सामाजिक बन्धनों के खिलाफ उठ खड़े हुए वर्गों ने व्यक्ति की स्वतंत्रता का नारा बुलंद किया। बुर्जुआ क्रांतिकारियों ने कहना शुरू किया कि मनुष्य पैदा तो स्वतंत्र होता है परन्तु वह हर कहीं जंजीरों से बंधा हुआ है। जन्म के समय वह अच्छा होता है परन्तु सामाजिक संस्थायें, प्रथायें उसे बुरा बना देती हैं। ये दीगर बात है सामन्ती संस्थाओं, प्रथाओं को नष्ट करने वाले जो नयी पूंजीवादी संस्थाएं खड़ी कर रहे थे वह मात्र यह भ्रम पैदा करती थीं कि मनुष्य स्वतंत्र और बराबर हैं। पूर्व वर्गीय समाजों की तरह यह नया समाज भी अल्पसंख्यकों के शासन पर अधारित था जहां आबादी की बहुसंख्या उजरती गुलाम थी। जिस स्वतंत्रता का वह आकांक्षी था वह थी उत्पादन के साधनों पर निजी मालिकाना। निजी मालिकाना ही स्वतंत्रता, व्यक्तिवाद की कसौटी बन गया।

यह सच्चाई है कि बुर्जुआ सामाजिक सम्बन्ध जहां बुर्जुआ वर्ग के लिए स्वतंत्रता वहां सर्वहारा वर्ग के लिए परतंत्रता को जन्म देते रहते हैं। यह स्वतंत्रता और परतंत्रता साथ–साथ अस्तित्वमान होती हैं।

उपरोक्त तीक्ष्ण सच्चाई के बावजूद पूंजीवादी समाज व्यक्ति की स्वतंत्रता, सामाजिक–राजनीतिक भागीदारी, शिक्षा–संस्कृति तक पहुंच आदि के मामले में औपचारिक के साथ–साथ वास्तविक तौर पर पूर्व समाजों के सापेक्ष न केवल प्रगतिशील बल्कि क्रांतिकारी भूमिका निभाता है। और ऐसा करने में पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की केन्द्रीय व अग्रणी भूमिका होती है। सर्वहारा वर्ग की तुलना पूर्व समाजों के उत्पादक वर्गों भू–दास या दासों से की जाय तो हम पायेंगे उपरोक्त सन्दर्भ में पूंजीवाद ने महान क्रांति की और क्रांतिकारी भूमिका निभायी। इसने इस बात की सम्भावना पैदा की कि अब मनुष्य वास्तविक स्वतंत्रता को हासिल करने की ओर बढ़ सकते हैं। एक ऐसे समाज के निर्माण की ओर बढ़ सकते हैं जहां हर सदस्य को वैयक्तिक स्वतंत्रता हासिल हो तथा वह सभी दिशाओं में अपनी प्रतिभा का विकास कर सके।

व्यक्तिवाद या व्यक्तिवादी विचारधारा का जन्म और विकास सारतः पूंजीवाद के जन्म और विकास से अभिन्न रूप से जुड़ा है। और जब पूंजीवाद अपनी उच्चतम अवस्था साम्राज्यवाद में दाखिल हुआ तब व्यक्तिवाद या इस विचारधारा में जो कुछ भी सकारात्मक व प्रगतिशील था वह अपने नकारात्मक और प्रतिक्रियावाद में तब्दील हो गया। इस विषय पर चर्चा आगे की जायेगी।

व्यक्तिवादी विचारधारा क्योंकि एक पूंजीवादी विचारधारा ही है अतः इसके जन्म और विकास पर मूलतः वही बातें लागू होती हैं जो आमतौर पर पूंजीवादी विचारधारा व दर्शन के सम्बन्ध में लागू होती हैं।

एंगेल्स ने 'लुडविग फायरबाख और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अंत' में इस सम्बन्ध में लिखा है :

> '' ... ... **15**वीं सदी के मध्य से आरम्भ होने वाला पूरा पुनर्जागरण काल जिस तरह मूलभूत रूप में नगरों की और इसलिए बर्गरों की देन है, उसी तरह बाद का नव–जागृत दर्शनशास्त्र भी उनकी ही देन है। उसकी अंतर्वस्तु सारतः उन विचारों की दार्शनिक अभिव्यक्ति मात्र थी जो छोटे और मंझोले बर्गरों के बड़े पूंजीपतियों में विकसित होने के साथ मेल खाते थे। विगत शताब्दी के अंग्रेज और ंसीसियों में, जिनमें अक्सर लोग अर्थशास्त्री होने के साथ–साथ दार्शनिक भी होते थे, यह विचारधारा स्पष्ट है, हेगेलीय दर्शन के सम्बन्ध में हम इसे पहले ही सिद्व कर चुके हैं।'' (ैडरिक एंगेल्स, 'लुडविग फायबाख और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अन्त', पेज.**257**, पैरा.**III** मार्क्स–एंगेल्स की संकलित रचनाएं, तीन खंडों में, खंड–**3**, भाग.**2)**

व्यक्तिवादी सोच या दर्शन एक ऐसे समाज में ही पैदा हो सकता था जो कि निजी सम्पत्ति की ऐसी व्यवस्था हो जिसमें मनुष्य का परमाणविकरण हो जाये। मार्क्स ने पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत बने सम्बन्धों की प्रकृति के बारे में कहा था कि ये कुछ परमाणविक **(purely atomistic)** हो जाते हैं। इस तरह ये सम्बन्ध किसी अकेले, विलगित मनुष्य के दृष्टिकोण को जन्म देते हैं। यह इस बात का भी आभास उत्पन्न करते हैं कि किसी व्यक्ति का किसी सामाजिक अवयव से विलगाव पैदा हो गया है और समाज के ऐतिहासिक विकास से भी मनुष्य का विकास अलग से हो सकता है। यहां तक कि उसे समाज की आवश्यकता ही नहीं है।

मनुष्य के परमाणविकरण **(atomization)** में अलगाव **(alienation)** की भूमिका होती है। अलगाव अपने को तीन भिन्न रूपों में प्रकट करता है। पहला, श्रम उत्पाद से अलगाव **(alienation from the product of work)**, दूसरा, उत्पाद की प्रक्रिया के दौरान अलगाव **(alienation in the process of production)**। इसे श्रमिक के अलगाव के रूप में भी समझा जा सकता है। तीसरा, समाज से अलगाव **(alienation from the Society)**। मार्क्स ने अलगाव के इन रूपों में भेद 'इकानमी एण्ड फिलोस्फीकल मैन्यूस्क्रीप्ट ऑफ **1844**' में किया।

मार्क्स पहले व्यक्ति नहीं थे जिन्होंने अलगाव की अवधारणा पर विचार रखे थे। मार्क्स से पहले हीगल, फायरबाख, फिश्ते आदि बुर्जुआ दार्शनिकों ने इस अवधारणा को प्रस्तुत किया। हीगल ने अलगाव की भाववादी धारणा प्रस्तुत की। हीगल के अनुसार सभी आत्मिक रचनाओं **(spiritual creation)** में अलगाव अन्तर्निहित है। इसलिए यह मनुष्यों के नियंत्रण में नही है कि वह इसका अनुभव न करें।

मार्क्स ने अलगाव की भौतिकवादी व्याख्या की। मार्क्स ने हीगल, फित्शे, फायरबाख आदि की अवधारणाओं के विपरीत अलगाव के कारणों को उत्पादन प्रणाली तथा उसके आधार पर निर्मित अधिरचना में बताया। उपरोक्त तीनों तरह के अलगाव के बारे में मार्क्स ने लिखा :

> '' हमने व्यावहारिक मानव की गतिविधि, श्रम, के अलगाव की कार्रवाई को दो पहलुओं से देखा है :
>
> **(1)** ***श्रम के उत्पाद*** का मजदूर से संबंध जो कि मजदूर पर एक पराई वस्तु के रूप में प्रभुत्व जमाता है। यह संबंध साथ ही बाहरी आनुभविक दुनिया के साथ, प्राकृतिक वस्तुओं के साथ, संबंध भी है जो उसके लिए पराई और शत्रुवत है, **(2)** श्रम की ***उत्पादन की कार्रवाई*** का ***श्रम*** के दौरान संबंध। मजदूर का खुद की कार्रवाई के साथ सबंध एक पराई चीज है जो उसकी नहीं है, कार्रवाई जो कि कष्ट (निष्क्रियता) है। शक्ति, शक्तिहीनता है, पैदा करना नपुंसकता है, मजदूर की ***व्यक्तिगत*** शारीरिक और मानसिक ऊर्जा, उसका व्यक्तिगत जीवन, (क्योंकि बिना कार्रवाई के जीवन है क्या?), एक कार्रवाई के रूप में स्वयं उसके खिलाफ लक्षित है, उससे स्वतंत्र है और उसकी नहीं है। यह ***स्व–अलगाव*** है जो कि ऊपर वर्णित ***चीज*** से अलगाव से भिन्न है।'' (कार्ल मार्क्स, 'Economic and Philosophical Manuscripts of 1844,' 'Karl Marx Economy, Class and Social Revolution' Editted by Z.A. Jorden, पेज. **128**, पैरा.**5** जोर मूल में MICWAEL JOSEPH LONDON)
>
> ''चूंकि पृथ्क्कृत श्रम : **(1)** प्रकृति का मनुष्य से अलगाव कर देता है, और मनुष्य का खुद से अलगाव कर देता है, उसके स्वयं के सक्रिय कार्य से, उसकी जीवन गतिविधि से, इसलिए यह उसका उसकी प्रजाति से अलगाव कर देता है। यह ***प्रजाति–जीवन*** को व्यक्तिगत जीवन का साधन बना देता है। पहले यह प्रजाति जीवन और व्यक्तिगत में अलगाव करता है और दूसरे, बाद वाले को अमूर्त बनाकर, पहले के उद्देश्य में बदल डालता है, यह भी अमूर्त और पृथ्क्कृत रूप में।
>
> क्योंकि मनुष्य को अब श्रम, जीवन गतिविधि, उत्पादक जीवन, अब केवल एक आवश्यकता की पूर्ति का ***साधन***, अपने भौतिक अस्तित्व को बनाये रखने की जरूरत नजर आता है। लेकिन उत्पादन जीवन तो प्रजाति जीवन है। यह जीवन को पैदा करने वाला जीवन है। जीवन की गतिविधि के प्रकार में ही प्रजाति का सम्पूर्ण चरित्र छिपा होता है, उसकी प्रजाति का चरित्र, और स्वतंत्र, सचेत गतिविधि मानव का प्रजाति चरित्र है। जीवन स्वयं ***जीवन का साधन*** नजर आता है।'' (वही, पेज.**129ए** पैरा.**III,** जोर मूल में)
>
> आगे :
>
> ''मानव का प्रत्येक आत्म अलगाव, स्वयं और प्रकृति से, उस संबंध में प्रकट होता है जो वह अपने और दूसरे मनुष्यों तथा स्वयं और प्रकृति के बीच देखता है। इस तरह धार्मिक अलगाव निश्चित तौर पर आम धार्मिक व्यक्ति और पुरोहित के बीच या चूंकि मामला आत्मिक दुनिया का है तो, आम धार्मिक व्यक्ति और मध्यस्थ के बीच के सम्बन्ध में अभिव्यक्त होता है। व्यवहार के वास्तविक जीवन में यह स्व अलगाव केवल मनुष्य के साथी मनुष्यों के साथ वास्तविक, व्यवहारिक संबंध में ही प्रकट हो सकता है। जिस माध्यम से यह अलगाव प्रकट होता है वह स्वयं ***व्यावहारिक*** है। इसलिए पृथ्क्कृत श्रम के द्वारा मनुष्य न केवल वस्तु के प्रति और उत्पादन प्रक्रिया के प्रति अपने संबंध को पराये और शत्रु मानवों के साथ संबंध के रूप में पैदा करता है, वह अपने उत्पादन और उत्पाद के प्रति अन्य मनुष्यों के संबंध को तथा अपने और अन्य मनुष्यों के बीच संबंध को भी पैदा करता है। जिस तरह वह अपने स्वयं के उत्पादन को एक कष्ट, एक दंड के रूप में पैदा करता है और उत्पाद को एक नुकसान के तौर पर, एक ऐसे उत्पाद के तौर पर जो उसका नहीं है, उसी तरह वह गैर उत्पादकों के उत्पादन और उत्पाद पर प्रभुत्व को भी पैदा करता है। जब वह

अपनी कार्रवाई का अलगाव करता है तब वह अजनबी को उस कार्रवाई का श्रेय दे देता है जो उसकी नहीं है।'' (पेज.**132**, पैरा.4 जोर मूल में, वही)

और आगे :

''इस तरह ***निजी सम्पत्ति*** पृथक्कृत श्रम की अवधारणा के विश्लेषण से निकलती है, यानी कि पृथक्कृत मानव, पृथक्कृत श्रम, पृथक्कृतजीवन और अलगाव में पड़ा मनुष्य।''(पेज.**133,** पैरा.**II,** जोर मूल में, वही)

पूंजीवाद समाज में सर्वहारा का श्रम उत्पाद व उत्पादन प्रक्रिया के दौरान अलगाव व मनुष्य का मनुष्य से अलगाव एक ऐसे समाज को बनाता है जिसमें मनुष्य को यह आभास होता है कि वह एक अलग–थलग इकाई है। व्यक्तिवादी, अस्तित्ववादी विचारक इस अलग–थलग इकाई को सामाजिक सच्चाई के रूप में प्रस्तुत करने के अलावा इसे महिमामंडित भी करते हैं। इस इकाई की आवश्यकता को समाज के ऊपर वरीयता देने के अलावा इसके अस्तित्व व विकास को ही मानव जीवन का लक्ष्य घोषित कर देते हैं। मानव समाज के विकास की कसौटी को ये आभासी इकाई के विकास व स्वतंत्रता से तय करते हैं। जैसा कि पहले कहा गया है कि ये आम तौर पर समाज की बात करते हैं। किसी समाज व्यवस्था की नहीं। इनके लिए समाज किसी खास उत्पादन प्रणाली के इर्द–गिर्द संगठित नहीं होता है। और न ही वह वर्गों में बंटा होता है। इनके अनुसार न उत्पादक वर्ग है और न उत्पादन के साधनों पर काबिज परजीवी उत्पादक वर्ग। न सर्वहारा न पूंजीपति वर्ग। समाज व्यवस्था के ऐतिहासिक विकास क्रम को ये अस्वीकार कर देते हैं। इस तरह से ये वर्तमान पूंजीवादी समाज व्यवस्था के चाहे–अनचाहे पूर्ण हिमायती बन जाते हैं। सामन्तवाद तो ''व्यक्ति स्वतंत्रता'' के खिलाफ था परन्तु पूंजीवादी समाज, जो कि इसका दावा करता है, कि सच्चाई यही है कि इसमें पूंजी ही स्वतंत्र होती है। और उसका ही व्यक्तित्व होता है। स्वतंत्रता और व्यक्तित्व के विकास का दावा करने वाले इस पूंजीवाद का मार्क्स ने कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणापत्र में ठीक ही जवाब दिया है :

''इस प्रकार, पूंजीवादी समाज में वर्तमान के ऊपर अतीत हावी होता है, कम्युनिस्ट समाज में अतीत के ऊपर वर्तमान हावी होता है। ***पूंजीवादी समाज में पूंजी स्वतंत्र है और उसका व्यक्तित्व होता है, किन्तु जीवित व्यक्ति परतंत्र है और उसका कोई व्यक्तित्व नहीं होता।***

फिर भी, ***पूंजीपति वर्ग कहता है कि इस परिस्थिति को खत्म कर देने का मतलब व्यक्ति और स्वतंत्रता को खत्म कर देना है।*** और यह ठीक ही है। इसमें कोई संदेह नहीं कि हम पूंजीवादी व्यक्तित्व, पूंजीवादी स्वतंत्रता और पूंजीवादी स्वाधीनता को जड़मूल से खत्म कर देना चाहते हैं। '' (मार्क्स, 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' पृष्ठ.**247ए** पैरा–**3.4ए** खंड.**1ए** भाग.**1ए** प्र.प्र.मास्को, जोर हमारा)

एक अन्य स्थान पर मार्क्स व एंगेल्स ने इस बात की चर्चा की है कि व्यक्तित्व का निर्धारण निश्चित वर्ग सम्बन्धों द्वारा होता है। सर्वहारा पूंजीवादी समाज में ''व्यक्तित्व'' या ''स्वतंत्रता'' हासिल नहीं कर सकता है। ''व्यक्तित्व'' या ''स्वतंत्रता'' हासिल करने के लिए उसे उन अवस्थाओं का निर्मूल करना होता है जिसके कारण उसका अस्तित्व होता है। उसे अपने को प्रतिष्ठित करने के लिए वर्तमान राज्य को उलटना होता है। मार्क्स व एंगेल्स ने लिखा है :

''व्यक्ति सदैव स्वयं अपना आधार रहे हैं, लेकिन स्वभावतया अपने नियत ऐतिहासिक अवस्थाओं तथा सम्बन्धों के अन्दर ही, सिद्वान्तकारों के अर्थ में ''विशुद्व'' व्यक्ति के रूप में नहीं। परन्तु ऐतिहासिक विकासक्रम के दौरान, तथा ठीक इस अवश्यम्भावी तथ्य के फलस्वरूप कि श्रम–विभाजन के अन्दर सामाजिक सम्बन्ध स्वतंत्र अस्तित्व ग्रहण करते हैं, हर व्यक्ति के जीवन के अन्दर एक विभाजन उस हद तक प्रकट होता है जिस हद तक वह वैयक्तिक होता है तथा जिस हद तक उसे श्रम की कोई शाखा तथा उससे सम्बन्ध रखने वाली अवस्थाएं निश्चित करती हैं। (हमारा यह आशय नहीं है कि इसे इस तरह समझा जाये कि उदाहरण के लिए किरायाजीवी या पूंजीपति आदि व्यक्ति नहीं रह जाते, हमारा आशय तो यह है कि उनका व्यक्तित्व सर्वथा निश्चित वर्ग सम्बन्धों द्वारा निर्धारित होता है, और यह विभेद केवल दूसरे वर्ग से उनके विरोध में ही उत्पन्न होता है, और स्वयं उनके लिए केवल तभी उत्पन्न होता है जब वे दिवालिया हो जाते हैं।) एस्टेट में (और इससे भी बढ़कर कबीले में) यह अभी प्रच्छन्न रहता है : उदाहरण के लिए एक श्रीमन्त हमेशा श्रीमन्त तथा साधारण जन हमेशा साधारण जन बना रहता है, यह उसके अपने अन्य सम्बन्धों के अतिरिक्त होता है, ऐसा गुण है जो उसके व्यक्तित्व से सर्वथा अविच्छेद्य होता है। ***व्यक्तिगत तथा वर्गीय मनुष्य के बीच विभेद, मनुष्य के लिए जीवन अवस्थाओं का आकस्मिक स्वरूप केवल उस वर्ग के प्रादुर्भाव के साथ प्रकट होता है, जो स्वयं पूंजीपति वर्ग की उपज है।*** इस आकस्मिक स्वरूप को केवल व्यक्तियों की परस्पर प्रतिस्पर्द्वा तथा संघर्ष ही पैदा करते तथा विकसित करते हैं। इसलिए ***काल्पनिक रूप में मनुष्य पूंजीपति वर्ग के प्राधान्य में पहले से अधिक स्वतंत्र लगते हैं, क्योंकि उनके जीवन की अवस्थाएं आकस्मिक प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में वह कम स्वतंत्र होते हैं क्योंकि वे वस्तुओं की शक्ति के वश में अधिक होते हैं।*** पूंजीपति वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग के बीच विरोध से एस्टेट का अन्तर खास तौर पर उभर कर सामने आता है। जब शहरियों की एस्टेटें, निगम आदि, भू–सामन्तों के खिलाफ उठ खड़े हुए तो उनके अस्तित्व की अवस्था– सचल सम्पत्ति और दस्तकारी श्रम, जो सामन्ती सम्बन्धों से उनकी पृथकता से पहले से ही सुषुप्तावस्था में विद्यमान थे– एक ठोस वस्तु के रूप में प्रकट हुई, जिसे सामन्ती भू–सम्पत्ति के विरुद्व इस्तेमाल किया गया, और जिसने इस कारण पहले सामन्ती रूप ग्रहण किया। निस्सन्देह 'भगोड़े भू–दास' अपने पहले की दासता को अपने व्यक्तित्व के लिए एक तरह की आकस्मिक वस्तु मानते थे। परन्तु इस मामले में तो वे सिर्पफ वही कर सकते थे जो अपने को किसी बेड़ी से मुक्त कर रहा हर वर्ग करता है, और उन्होंने अपने को एक वर्ग के रूप में नहीं वरन पृथक रूप से मुक्त किया। यही नहीं वे एस्टेट–प्रणाली से बाहर नहीं निकले, बल्कि उन्होंने एक नयी एस्टेट तैयार की, ऐसा करते समय उन्होंने नयी स्थिति में भी श्रम की अपनी पूर्ववती विधि को बरकरार रखा तथा उसे उसकी पूर्ववर्ती बेड़ियों से, जो हासिल किये जा चुके विकास से अब मेल नहीं खाती थी, मुक्त कर उसका आगे विकास किया।

''दूसरी ओर सर्वहाराओं के लिए उनके अस्तित्व की अवस्था, श्रम तथा उनके साथ आधुनिक समाज को शासित करने वाली तमाम अवस्थाएं कुछ आकस्मिक वस्तु, कुछ ऐसी चीज बन गयी है जिसके ऊपर पृथक व्यक्तियों के रूप में उनका कोई नियंत्रण नहीं है, और कोई *सामाजिक* संगठन उन्हें ऐसा नियंत्रण नहीं सौंप सकता। हर पृथक सर्वहारा के व्यक्तित्व तथा श्रम – उस पर थोपी गयी जीवन की इस अवस्था – के बीच अंतर्विरोध स्वयं उसके सामने स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि जवान होते ही उसे कुरबान कर दिया जाता है और अपने वर्ग के अन्दर उसके लिए उन अवस्थाओं तक पहुंचने का कोई मौका नहीं मिलता जो उसे दूसरे वर्ग में पहुंचा सकें। ... ...

''इस तरह भगोड़े भू–दास जहां केवल अस्तित्व की पहले से ही मौजूद अवस्थाओं को विकसित करने तथा उन्हें जमाने के लिए स्वतंत्र होना चाहते थे, और इस कारण जो अन्त में मुक्त श्रमिक बन गये, वहां **सर्वहाराओं को – यदि उन्हें व्यक्तियों के रूप में अपने को प्रतिष्ठित करना है – अपने अस्तित्व की अब तक मौजूद अवस्था को ही** (जो वैसे अब तक पूरे समाज की अवस्था रही है) **यानी श्रम को मिटाना पड़ेगा।** इस तरह वे अपने को राज्य के विरुद्व खड़ा पाते हैं यानी उस रूप के विरुद्व जिसमें अब तक व्यक्तियों ने, जिन्हें लेकर समाज बना है, अपने को समुदाय के रूप में अभिव्यक्ति दी है। **अतः व्यक्तियों के रूप में अपने को प्रतिष्ठित करने के लिए उन्हें राज्य को उलट देना चाहिए।''** ख्कार्ल मार्क्स और ऐ्डरिक एंगेल्स, 'फायरबाख भौतिकवादी तथा भाववादी दृष्टिकोण का विरोध ('जर्मन विचारधारा' का पहला अध्याय), पेज.**78-79-80,** खण्ड.**1,** भाग.**1,** मा.एं.सं.र. तीन खण्डों में, रेखांकित अक्षर–जोर मूल में, सिर्फ बोल्ड अक्षर–जोर हमारा,

यहां मार्क्स इस बात पर विशेष जोर दे रहे हैं कि पूंजीवादी समाज में सर्वहारा वर्ग के पास अपने को व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने का अवसर ही नहीं होता है। जैसा हम पहले देख आये हैं कि सर्वहारा एक उजरती गुलाम होता है। वह वस्तुओं का दास होता है।

पूंजीवादी समाज में उसका अपने द्वारा उत्पादित उत्पाद व सृजित मूल्य से अलगाव बढ़ता जाता है। अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए एक मनुष्य के रूप में पूंजीवाद उसे कोई अवसर नहीं देता है। उसकी वैयक्तिकता अथवा व्यक्तित्व में सबसे बड़ी बाधा उसके उत्पादन के साधनों का स्वामी न होने या दूसरे शब्दों में उसके गुलाम होने से उठ खड़ी होती है। इसलिए व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित होने के लिए उसे महान सामाजिक क्रांति करनी होती है। निजी सम्पत्ति पर आधारित व्यवस्था का पूर्ण खात्मा ही सर्वहारा को इस बात का अवसर प्रदान करता है कि वह व्यक्ति के रूप में अपने को प्रतिष्ठित कर सके।

व्यक्ति और समाज के रिश्ते किसी दिये गये ऐतिहासिक समय में सामाजिक– आर्थिक व्यवस्था से ही निर्धारित हो रहे होते हैं। जो बात ऊपर सर्वहारा वर्ग के लिए लागू होती है वही बात दूसरे तरीके से व्यक्तिवादी विचारकों, चिंतकों पर भी लागू होती है। व्यक्तिवादी विचारकों व सिद्वान्तकारों के विचारों पर भी यह बात लागू होती है कि वह स्वयं समाज की सामाजिक–आर्थिक विकास की किस अवस्था में जी रहे हैं। हम देखते हैं कि पूंजीवाद के विकास की विभिन्न अवस्थाओं में सामने आने वाले व्यक्तिवादी विचारकों व सिद्वान्तकारों की बातों में मतभिन्नता होती है। रूसो, वॉल्तेयर, ह्यूगो, फिश्ते, हीगल, नीत्शे, सार्ध आदि के व्यक्ति और समाज के रिश्तों के बारे में विचार, इसी बात से निर्धारित हो रहे होते हैं कि वे स्वयं पूंजीवादी विकास की किन मंजिलों में खड़े हैं।

असल में, व्यक्ति और समाज के बीच के रिश्तों के बारे में कोई अंतिम, निर्णायक सामान्य बात नहीं की जा सकती है। अमूर्त रूप में व्यक्ति और समाज के बीच समरसता **(harmony)** कायम करने के सारे प्रयास महज दिवास्वप्न हैं। यूटोपिया हैं। इस सम्बन्ध में मार्क्सवादी–लेनिनवादियों के बीच मार्क्सवादी दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठित प्लेखानोव की बातें गौरतलब हैं। प्लेखानोव ने अपने एक लेख में 'दि आडियालॉजी ऑफ अवर प्रेजेण्ट–डे फिलीस्टाइन' में हर्जेन की कुछ ठीक बातों को रेखांकित करते हुए लिखा है :

> '' किसी भी ऐतिहासिक समय में व्यक्ति के साथ समाज के रिश्तों का रूप अपने अंतिम विश्लेषण में उसे समय की सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था पर निर्भर करता है। अब अपनी बारी में सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था का विकास समाज की उत्पादक शक्तियों के विकास से निर्धारित होता है न कि इस बात से कि यह या वह सिद्वान्तकार व्यक्तिवाद के सवाल को किस तरह देखता हैः सिद्वान्तकार के दृष्टिकोण स्वयं सामाजिक–आर्थिक विकास की गति से तय होते हैं। यदि सिद्वान्तकार इसे नहीं देखते और यदि वे व्यक्ति और समाज के बीच सामंजस्य को अमूर्तता में देखते हैं, भले ही समाजशास्त्रीय रचनाओं में,वे केवल यही प्रदर्शित करते हैं कि वे अभी भी काल्पनिक होना बन्द नहीं किये हैं। '' (जी. प्लेखानोव, 'दि आडियालॉजी ऑफ अवर प्रेजेण्ट–डे फिलीस्टाइन,' पेज,**522,** पैरा. **1, vol-5,** सलेक्टेड फिलोसोफिकल वर्क्स, प्रो. पब्लिशर्स मास्को)

प्लेखानोव यहां ठीक ही बात को स्थापित कर रहे हैं कि किसी दिये समय में व्यक्ति और समाज के रिश्ते को निर्धारित करने वाली चीज सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था है। और इस व्यवस्था का निर्धारण इस बात से हो रहा होता है कि उत्पादक शक्तियों के विकास का स्तर क्या है। जैसे–जैसे इनमें बदलाव होता है वैसे–वैसे ही व्यक्ति और समाज के रिश्ते भी बदलते जाते हैं। इस तरह से व्यक्तिवादी विचारकों व सिद्वान्तकारों की सबसे बड़ी कमी यह है कि वे व्यक्ति और समाज के रिश्तों के बारे में विचार करते समय उसके सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था और उसके विकास व अवस्था से गहरे सम्बन्ध को समझ ही नहीं पाते हैं। और न वे समझ सकते हैं। इसी आधार पर हम इस बात को समझ सकते हैं कि क्यों एक समय एक देश का बुर्जुआ वर्ग रूसो के विचारों के साथ खड़ा होता है, उसे प्रशंसा की दृष्टि से देखता है तो हम पाते हैं कि इतिहास के किसी दूसरे कालखण्ड में किसी दूसरे देश में रूसो नहीं बल्कि नीत्शे प्रतिष्ठा हासिल करता है।

अठारहवीं सदी में ऩंस का क्रांतिकारी बुर्जुआ वर्ग रूसो के विचारों को प्रशंसा की निगाह से देखता है। रूसो कहते हैं कि मनुष्य पैदा तो स्वतंत्र होता है परन्तु समाज उसे जकड़ देता है। ऩंस का तब का बुर्जुआ वर्ग इस बात को शिद्दत से महसूस करता है कि सामन्ती, धार्मिक मध्ययुगीन संस्थाओं, प्रथाओं ने उसे जकड़ा हुआ है।

हॉलैण्ड, ऩंस आदि देशों में हुयी बुर्जुआ क्रांतियों के समय और उसके बाद उदीयमान सर्वहारा वर्ग और अन्य मेहनतकश तबकों की आकांक्षाओं व सक्रियता ने बुर्जुआ वर्ग को उसके भविष्य की झलक दिखलानी शुरू कर दी थी। ऐसे में वह सामन्ती अभिजात वर्ग के साथ सुलह–समझौते की ओर बढ़ता है। संवैधानिक राजतंत्र उसके राज्य का रूप बनकर सामने आता है। और इसके प्रवक्ता के तौर पर हम जर्मनी में हीगल को पाते हैं। हीगल का काल अठारहवीं सदी का अंत और उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ का है।

उन्नीसवीं सदी का अंत आते–आते और बीसवीं सदी के प्रारम्भ में जर्मनी के बुर्जुआ वर्ग का पसंदीदा विचारक व चिंतक बनकर नीत्शे उभरता है। नीत्शे का दर्शन एक ऐसे बुर्जुआ के लिए सबसे अधिक उपयुक्त ठहरता है जो स्वतंत्र प्रतियोगिता के दौर के पूंजीवाद से एकाधिकारी युग में प्रवेश कर रहा था।

असल में, एकाधिकारी पूंजीवाद अथवा साम्राज्यवाद के दौर में व्यक्तिवाद एक तरह से अ–व्यक्तिवाद **(anti-individualism)** में बदल जाता है। यह अ–व्यक्तिवाद अपने आपको कभी अति मानव **(Super man)** या दूसरे शब्दों में नीत्शेवाद तो कभी नाजीवाद, फासीवाद, 'सामाजिक–फासीवाद', सांगठनिक व्यक्ति **(organisation-men)** आदि अवधारणाओं या विचारधाराओं में अभिव्यक्त करता है। सारतः ये सभी ऐसी पूंजीवादी विचारधारायें हैं जो साम्राज्यवाद और उसके तीखे संकट काल के दौरान उपजती हैं। यहां उदारतावाद व व्यक्तिवाद का स्थान अ–व्यक्तिवाद ले चुका होता है।

अतिमानव जैसी अवधारणाओं में एक असाधारण शक्ति रखने वाला मानव पूरे समुदाय को प्रतिस्थापित कर देता है। उसी का व्यक्तित्व होता है बाकी सभी उसी के व्यक्तित्व के प्रकाश से झूठे ढंग से जगमगाते हैं। यह अतिमानव संकटग्रस्त पूंजीवाद को उभारने के लिए ''अवतरित'' होता है अतः पूंजीवादी समाज का शासक वर्ग इसे अपनाता है और जो कुछ भी व्यक्तिगत स्वतंत्रता या बुर्जुआ जनवाद आम लोगों व सर्वहारा वर्ग को हासिल होता है उसका अपहरण कर लेता है। इस विचारधारा का प्रतिनिधि नीत्शे बनकर उभरता है।

नीत्शेवाद क्या है? इसका जवाब देते हुए प्लेखानोव ने लिखा था :

> ''नीत्शेवाद क्या है? यह आधुनिक पूंजीवाद की मांगों के प्रतिक्रिया–स्वरूप ''बुर्जुआ'' के प्रति चिरपरिचित शत्रुता का संशोधित और प्रतिपूरित नया संस्करण है जो कि पूंजीवादी व्यवस्था के साथ इस कदर पूर्ण संगति और दृढ़ सहानुभूति के साथ साहचर्य में होता है।'' (प्लेखानोव,**'Art and social life', page-45, PP Moscow** अनुवाद हमारा)

बीसवीं सदी के ढेर सारे फासीवादी चिंतकों और हिटलर सरीखे नेताओं के लिए नीत्शे का दर्शन प्रेरणास्रोत बनता है।

नाजीवाद जहां कौम, राष्ट्र, संस्कृति आदि के लिए सबकुछ कुर्बान करने वाले व्यक्तियों की धारणा व रूप प्रस्तुत करता है वहां फासीवाद राज्य के नाम पर यह करता है। संकटग्रस्त पूंजीवाद में पूंजीवादी राज्य को जहां पूंजीपति व निम्न पूंजीपति वर्ग संकट व भविष्य की असुरक्षा आदि कारणों से अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता व जनवाद को समर्पित करता है वहां सर्वहारा वर्ग और अन्य मेहनतकश समुदायों के साथ–साथ उत्पीड़न अल्प संख्यक समुदायों से (जिस भी स्तर तक यह प्राप्त थी) छीन ली जाती है। हां, कई दफा यह देखने में आ सकता है कि सर्वहारा वर्ग के सदस्य भी कुछ समय तक पूंजीपति व निम्न पूंजीपति का अंधानुकरण कर रहे हैं।

ऐसे समाजवादी समाजों में जहां पूंजीवाद की पुनर्स्थापना हो चुकी थी वहां सामाजिक–फासीवाद सामने आया। पूर्व सोवियत संघ में ट्रुश्चेव, ब्रेझनेव आदि तो चीन में देंग श्याओ पिंग से लेकर हू जिन्ताओ का काल ऐसा ही है। इन समाजों में सर्वहारा वर्ग पुनः गुलाम में तब्दील हो गया। शासक वर्ग से शासित वर्ग में तब्दील हो गया। समाजवादी समाज में उसे हासिल जनवाद, ''वैयक्तिक स्वतंत्रता'' को इन

पुनर्स्थापित पूंजीवादी समाजों द्वारा छीन लिया गया। कम्युनिस्ट पार्टियां सर्वहारा वर्ग की पार्टियों के स्थान पर ''नव पूंजीपति'' वर्ग की पार्टियां बन गयीं।

बीसवीं सदी में फासीवाद, विश्व युद्वों की विभीषिका, परमाणु युद्व की आशंका, आदि के कारणों से कई बुर्जुआ बुद्विजीवी 'मानव अस्तित्व' ''व्यक्तिगत स्वतंत्रता'' आदि को लेकर चिंतित हो गये। अस्तित्ववादी चिंतन जन्म लेने लगा। ज्यां पॉल सात्र इसके विचारक–चिंतक तो अर्नेस्ट हेमिंग्वे जैसे इसके साहित्यकार बनकर उभरे। हताशा–निराशा से उपजा यह दर्शन और कुछ नहीं पुराना व्यक्तिवाद, नये रूप में था। या दूसरे शब्दों में उन व्यक्तिवाद की प्रतिक्रिया के रूप में उभरा व्यक्तिवाद था।

व्यक्तिवाद की समस्या समाजवाद में भी मौजूद रहती है। यह अपने आपको चिंतन के तरीकों, कार्यशैली, आदतों आदि के रूप में जीवन के हर क्षेत्र में अभिव्यक्त करती रहती है। समाजवाद में जब तक पूंजीवाद के पनपने (या दूसरे शब्दों में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना के खतरे) की जमीन रहती है तब तक इस व्यक्तिवादी (पूंजीवादी) विचारधारा के लिए आवश्यक भौतिक परिस्थिति बनी रहती है। बाजार, मूल्य का नियम, शहर और देहात के साथ मानसिक व शारीरिक श्रम का फर्क, मुद्रा, छोटे पैमाने का उत्पादन और सामूहिक सम्पत्ति के विभिन्न रूपों की उपस्थिति आदि वह सम्मिलित कारण बनते हैं जो इस विचारधारा के पनपने के लिए भौतिक जमीन मुहैय्या कराते हैं। राज्य की उपस्थिति भी समाज के सदस्यों की वैयक्तिक स्वतंत्रता की सीमाएं खींचतीं है।

समाजवादी समाज में इस विचारधारा की सभी छोटी–बड़ी, खुली–छिपी अभिव्यक्तियों के खिलाफ संघर्ष आवश्यक होता है। सर्वहारा वर्ग की विचारधारा पर दृढ़तापूर्वक खड़े रहते हुए इसकी भौतिक जमीन को समाप्त करना होता है। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति की तर्ज पर कई क्रांतियों के बाद यह सुनिश्चित हो सकेगा कि साम्यवाद अपने निम्न रूप व मंजिल (समाजवाद) से अपने उच्च रूप व मंजिल की ओर अग्रसर है या अंशतः वहां पहुंच गया है जहां वर्ग समाप्त हो चुके हैं। शोषण पूर्णतः मिट चुका है। और राज्य नाम की संस्था विलुप्त हो चुकी है। और तब व्यक्तिवाद और अ–व्यक्तिवाद के सभी रूपों का उसकी भौतिक जमीन के साथ खात्मा हो चुका होगा।

अब, निम्न पूंजीपति वर्ग के व्यक्तिवाद पर कुछ चर्चा कर ली जाय। निम्न पूंजीपति वर्ग के व्यक्तिवाद की जमीन पूंजीपति वर्ग से भिन्न होती है हालांकि उसके विचार, धारणाएं, मूल्य, नीतिशास्त्र आदि अपने सार में वही होते हैं जो पूंजीपति वर्ग के होते हैं। निम्न पूंजीपति वर्ग भी सम्पत्तिशाली वर्ग होता है बस फर्क यह है कि एक तो उसकी सम्पत्ति पूंजीपति वर्ग के सापेक्ष बहुत छोटी होती है। उत्पादन के जिन साधनों पर कब्जा होता है वे बेहद छोटे पैमाने का उत्पादन करने के ही योग्य होते हैं। और उससे बड़ी बात पूंजीवाद की आम गतिकी छोटे पैमाने के उत्पादन को निरंतर मिटाती जाती है अपने साथ इस छोटे पैमाने के उत्पादक को भी वर्ग के रूप में नष्ट करती जाती है। छोटे–मंझोले किसान, दस्तकार, दुकानदार आदि के जीवनयापन साधन बड़े पैमाने का उत्पादन (और आज के जमाने में एकाधिकारी विशाल उद्यम) निरन्तर छीनकर इन्हें सर्वहारा की पांतों में धकेलता जाता है। इस तरह से पूंजीवादी समाज में यह वर्ग एक ऐसे आधार पर खड़ा होता है जो निरन्तर बिखर और समाप्त हो रहा है। एक तरफ जीवन इसे निरन्तर इसे सर्वहारा की पांतों में धकेल रहा होता है तो दूसरी तरफ इसकी इच्छा, आकांक्षा, निजी प्रयास पूंजीपति वर्ग की पांतों में पहुंचने के होते हैं। वह छोटे के पैमाने के उत्पादन को बड़े पैमाने के उत्पादन में बदलने का स्वप्न देखता रहता है। जीवन उसे निरंतर उजाड़ रहा होता है। परन्तु उसका आदर्श, लक्ष्य पूंजीपति वर्ग होता है। विचारों, जीवन से लेकर हर चीज में उसकी नकल कर रहा होता है।

निम्न पूंजीपति वर्ग के जीवन का यही विरोधाभास उसके व्यक्तिवाद को जन्म देता है जो पूंजीपति वर्ग के व्यक्तिवाद से भिन्न होता है। हालांकि यह सही है कि यह व्यक्तिवाद पूंजीपति वर्ग के व्यक्तिवाद का दुमछल्ला होता है।

निम्न पूंजीपति वर्ग के सदस्य के रूप में बुद्विजीवी वर्ग का व्यक्तिवाद कुछ भिन्नता लिए हुए होता है। भिन्नता बुद्विजीवी वर्ग के ''भौतिक उत्पादन'' के स्थान पर ''बौद्विक उत्पादन'' पर लगे होने के कारण पैदा होती है। बुद्विजीवी वर्ग का जीवन स्तर पूंजीवादी होता है। हालांकि यह सच है कि बुद्विजीवी वर्ग का सर्वहारा वर्ग से कोई आर्थिक विरोध नहीं होता है। सर्वहारा वर्ग का बुद्विजीवी वर्ग से विरोध उसकी हैसियत, जीवन स्तर, कार्य करने की परिस्थितियों आदि के कारण पैदा होता है। इसलिए बुद्विजीवी की जीवन परिस्थितियां व उसके ''उत्पादन'' का स्वरूप उसे व्यक्तिवाद, अराजकतावाद, आतंकवाद आदि की ओर ले जाता है जबकि सर्वहारा का जीवन पूरे निम्न पूंजीपति वर्ग के बरक्स उसे संगठन, अनुशासन, आत्म त्याग की ओर ले जाता है।

निम्न पूंजीपति वर्ग के सदस्यों के लिए निजी ज्ञान, निजी योग्यता, निजी कुशलता, निजी प्रयास, निजी मेहनत, निजी विश्वास, निजी व्यक्तित्व, निजी भविष्य आदि ही प्रमुख होते हैं। ये सब चीजें उसे पूंजीवाद, जो निरन्तर उसके जीवन और उसके आधार पर संकट खड़ा कर रहा होता है, के खिलाफ लड़ने में काफी बड़ी बाधा के रूप में सामने आता है।

व्यक्तिवाद से सम्बन्धित कुछ सैद्वान्तिक बातों को लेख में जान बूझकर छोड़ दिया गया है। महज इसलिए कि उन बातों की चर्चा इस पत्रिका के पिछले अंक में कर दी गयी थी। इन बातों में, व्यक्तिवाद तथा अराजकतावाद का आपसी सम्बन्ध, व्यक्तिवाद से वामपंथी व राष्ट्रीय आतंकवाद का सम्बन्ध, बुद्विजीवी वर्ग का व्यक्तिवाद व उसके कारण आदि प्रमुख हैं।

लेख के इस भाग के अंत में हम मार्क्स व एंगेल्स के उद्वरण को प्रस्तुत करेंगे जिसमें यह चर्चा की गयी है कि वैयक्तिक स्वतंत्रता या प्रतिभा का विकास साम्यवाद में ही सम्भव है। उद्वरण इस प्रकार हैं :

> '' ... ... केवल समुदाय के अन्दर ही हर व्यक्ति के पास सभी दिशाओं में अपनी प्रतिभा का विकास करने के साधन होते हैं, इसलिए केवल समुदाय के अन्दर ही वैयक्तिक स्वतंत्रता संभव है। समुदाय के पूर्ववर्ती प्रतिरूपों, राज्य आदि में वैयक्तिक स्वतंत्रता केवल उन लोगों के लिए विद्यमान रही है जिनका सत्ताधारी वर्गों के सम्बन्धों के अन्दर विकास हुआ, और यह विकास केवल उसी हद तक हुआ जिस हद तक वे इस वर्ग के व्यक्ति थे। ... '' [मार्क्स व एंगेल्स 'फायरबाख । भौतिकवादी तथा भाववादी दृष्टिकोण का विरोध' पेज.**77-78,** खण्ड.**1ए** भाग.**1,** मार्क्स–एंगेल्स की संकलित रचनाएं (हिन्दी में) तीन खण्डों में ,प्र.प्र. मास्को]

आगे, व्यक्ति की इतिहास की भूमिका व मूल्यांकन के बारे में संक्षेप में चर्चा की गयी है।

II

इतिहास में किसी व्यक्ति की भूमिका को लेकर अक्सर ही सवाल खड़े हो जाते हैं। अक्सर ही यह सवाल भी उठ खड़ा होता है कि इसकी (व्यक्ति के मूल्यांकन की) पद्वति क्या होनी चाहिए। इतिहास में व्यक्ति की भूमिका के सवाल को कुछ इस तरह से भी उठाया जा सकता है कि कोई व्यक्ति इतिहास में महान कैसे बनता है।

अक्सर ही उपरोक्त सवालों के जवाब बुर्जुआ विचारों से लैस व्यक्ति एक ढंग से तो मार्क्सवादी दूसरे ढंग से देगा। पहले व्यक्ति की पद्वति ऐसी होगी कि वह विश्लेषण करते समय व्यक्ति के ''नैसर्गिक'' गुणों, प्रतिभा, संकल्प शक्ति, अवसर व संयोग को इसका कारण बतायेगा। जबकि मार्क्सवादी पद्वति अपनाने वाला, व्यक्ति को उसके सामाजिक सम्बन्धों में स्थित करते हुए किसी कालखण्ड की भौतिक–ऐतिहासिक परिस्थितियों में उसकी भूमिका को खोजेगा। वह इस बात का पता लगाने की कोशिश करेगा कि उस विशिष्ट व्यक्ति

को प्रेरित करने वाली शक्तियां क्या थीं। वह यह जानने की कोशिश करेगा कि उस कालखंड में ऐसी कौन सी शक्तियां थीं जिन्होंने न केवल अमुक महापुरुष को बल्कि समाज के विशाल हिस्सों को प्रेरित किया। बुर्जुआ पद्धति व्यक्ति की इतिहास में भूमिका पर विचार करते समय उसे इतिहास से ही काट देती है। यह पद्धति उन कारणों का गम्भीरतापूर्वक पता लगाने की कोशिश ही नहीं करती हैं कि व्यक्ति के पीछे कौन सी ऐतिहासिक भौतिक शक्तियां कार्यरत थीं।

जैसा कि हम पिछले हिस्से में कह आये हैं कि मार्क्सवादी पद्धति के अनुसार व्यक्ति के समाज के साथ सम्बन्धों को सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था में स्थित करके ही समझा जा सकता है। और सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था का निर्धारण समाज की उत्पादक शक्तियों के विकास के स्तर से होता है। एक समय में उत्पादक शक्तियों का विकास उस स्तर पर पहुंच जाता है जहां पर वह स्थापित उत्पादन सम्बन्धों में बदलाव की मांग कर रही होती हैं। और इस तरह यह मांग इतिहास के पटल पर आ जाती है। महान घटनाओं के सूत्रपात होने की घड़ी आ जाती है।

इतिहास के पटल पर इस मांग के आने का अर्थ है कि जनता और उसके नायकों के मस्तिष्क पटल पर यह मांग अंकित होने लगती है। यह उस युग की चेतना बनकर उस युग के नायकों व जनता को प्रेरित करती है। इस तरह से यदि हमें किसी काल विशेष के महान व्यक्तियों की महानता का पता लगाना होता है तो हमें यह जानना होगा कि उस युग की मांग क्या थी। उस युग की प्रेरक शक्तियां क्या थीं। यहां एंगेल्स को उद्धृत करना उचित ही होगा। एंगेल्स ने 'लुडविक फायरबाख और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अंत' में लिखा है :

> '' इसलिए जब प्रश्न उन प्रेरक शक्तियों की छानबीन का होता है, जो चेतन अथवा अचेतन रूप में, और ज्यादातर अचेतन रूप में ही इतिहास में कार्यरत मनुष्यों की प्रेरणा के पीछे छिपी रहती हैं और जो इतिहास की वास्तविक प्रेरक शक्तियां हैं, ***तब प्रश्न इतना अधिक अलग–अलग व्यक्तियों की प्रेरणाओं का नहीं रहता, चाहे ये व्यक्ति कितने ही महान क्यों न हों, जितना कि उन प्रेरक शक्तियों का बन जाता है, जो विशाल जन–समूहों को, पूरे के पूरे राष्ट्रों को, और प्रत्येक राष्ट्र में पूरे के पूरे वर्गों को*** – केवल क्षणिक काल के लिए नहीं, भभककर बुझ जाने वाली पयाल की आग की तरह किसी क्षणिक उत्तेजक कार्यवाहियों के लिए नहीं, बल्कि इतिहास में महान रूपान्तरण करने वाले स्थायी कार्य के लिए– ***गतिशील करती है***। उन प्रेरक कारणों का पता लगाना जो क्रियाशील जनगण और उनके नेताओं–तथाकथित महापुरुषों– के दिमाग में चेतना प्रेरणा बन कर स्पष्ट या अस्पष्ट, प्रत्यक्ष या विचारधारात्मक या गौरवमंडित रूप तक में प्रतिबिंबित होते हैं– यही अकेला मार्ग है जो उन नियमों की ओर ले जा सकता है, जो समग्रतः इतिहास और विशेष युगों में या विशेष देशों–दोनों–में ही प्रभावशाली रहते हैं। ...''

आगे एंगेल्स फिर बताते हैं कि हमारे युग में इतिहास की प्रेरक शक्तियों की छानबीन का काम क्यों आसान हो गया है :

> '' पर जहां पहले के युगों में इतिहास की उन प्रेरक शक्तियों की छानबीन करना–उनके और उनके परिणामों के अन्तः सम्बन्ध जटिल और छिपे होने की वजह से–प्रायः असम्भव कार्य था, वहां ***हमारे वर्तमान युग ने इन अन्तः सम्बन्धों को इतना सरल कर दिया है कि पहेली हल की जा सकती है।''*** (ैडरिक एंगेल्स, 'लुडविग फायरबाख और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अन्त, पेज.252,253ए मार्क्स–एंगेल्स की संकलित रचनाएं, तीन खंडों में, खंड.**3,** भाग.**2**,प्र.प्र. मास्को जोर हमारा)

यहां एंगेल्स जिस बात को स्थापित कर रहे हैं कि सवाल यह महत्वपूर्ण नहीं है कि कोई व्यक्ति व्यक्तिगत तौर पर कितना महान है बल्कि यह है कि वह महान व्यक्ति जिस राष्ट्र, जनगण या समूह का हिस्सा है उसको प्रेरित करने वाली शक्तियां कौन सी है? अगर हम सीधे तौर पर इसी सवाल को लें कोई व्यक्ति महान क्यों होता है। इस सवाल का जवाब देते हुए प्लेखानोव ने अपने एक लेख 'ऑन दि इंडिविजुअल्स रोल इन हिस्ट्री' में लिखा है :

> ''लेकिन हम विषय पर लौटें। महान व्यक्ति महान है इसलिए नहीं कि वह ऐतिहासिक घटनाओं को अपनी व्यक्तिगत चारित्रिक विशेषताओं के कारण कुछ विशिष्टता प्रदान कर देता है बल्कि इसलिए कि उसकी चारित्रिक विशेषताएं उसे उसके समय महान सामाजिक आवश्यकताओं की सेवा करने के लिए सबसे सक्षम बना देती हैं, वे आवश्यकताएं जो आमतौर पर विशिष्ट गति के प्रभाव में पैदा हुई हैं। नायक और नायक पूजा पर अपनी सुपरिचित किताब में कार्लाइल महान लोगों को ***प्रवर्तक*** **(beginner)** कहते हैं। यह बहुत माकूल वर्णन है। एक महान व्यक्ति वस्तुतः प्रवर्तक होता है क्योंकि वह बाकी लोगों से ***ज्यादा*** आगे तक देखता है और उसकी इच्छाएं दूसरों से ***ज्यादा*** मजबूत होती हैं। वह इतिहास के बौद्विक विकास की गति द्वारा पैदा की गयी पहले की समस्याओं को हल करता है, वह सामाजिक सम्बन्धों के पहले के विकास की गति द्वारा पैदा की गई जरूरतों को इंगित करता है, वह इन जरूरतों को पूरा करने के लिए पहलकदमी लेता है। वह नायक है, इस अर्थ में नहीं कि वह चीजों की स्वाभाविक गति को रोक या बदल सकता है बल्कि इस अर्थ में कि उसकी पहलकदमी और अचेत गति की सचेत व स्वतंत्र अभिव्यक्ति होती है। इसी में उसका सारा महत्व, उसकी सारी शक्ति निहित है। लेकिन यह विशाल महत्व और बहुत बड़ी ताकत है।'' (प्लेखानोव,**' On The Individual's Role in History*** ist**-314,** iSjk**-4, G.P.S.P.W. Vol-II, P.P.** मास्को, जोर मूल में, अनुवाद हमारा)

प्लेखानोव की बातों से सुस्पष्ट है। इसी विषय पर इसी लेख में एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा है :

> '' यह बहुत पहले नोट किया गया है कि हमेशा और हर जगह महान प्रतिभाएं पैदा हुई हैं, जहां और जब भी उनके विकास के लिए अनुकूल सामाजिक स्थितियां मौजूद थी। इसका मतलब यह है कि कोई भी प्रतिभा अपने को प्रदर्शित करती है, यानी, ज ो कोई भी प्रतिभा सामाजिक शक्ति बनती है वह सामाजिक सम्बन्धों की उत्पाद होती है। लेकिन यदि ऐसा है तो यह समझा जा सकता है कि प्रतिभावान व्यक्ति 'क्यों' केवल जैसा कि हमने कहा है, घटनाओं की कुछ विशेषताओं को परिवर्तित कर सकते हैं, व्यापक प्रवृत्ति को नहीं, वे स्वयं उसी प्रवृत्ति के कारण अस्तित्वमान होते हैं, इसके बिना वे संभावना और वास्तविकता के बीच की देहरी को नहीं लांघ पाये होते।'' (पेज.**310,** पैरा.**III,** वही)

उपरोक्त के मद्देनजर हम आसानी से समझ सकते हैं कि किसी महान व्यक्ति के आने और उसके समाज में प्रभाव डालने के लिए अनुकूल सामाजिक स्थितियां पहले से मौजूद होती हैं। और यह महान व्यक्ति इस तरह से सामाजिक सम्बन्धों का उत्पाद होता है। प्लेखानोव ने अपने इसी लेख में उन शर्तों का स्पष्ट उल्लेख किया है जिसके कारण कोई महान व्यक्ति अपने युग की घटनाओं पर प्रभाव डाल पाता है :

> '' विशेष प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति के लिए घटनाओं के प्रवाह पर असर डालने के लिए दो शर्तें जरूरी हैं। पहली, यह प्रतिभा उसे उसके युग की निश्चित आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए दूसरों से बेहतर बनाती हो। ... ... दूसरी, वर्तमान सामाजिक व्यवस्था इस विशेष समय की जरूरी और उपयोगी प्रतिभा वाले व्यक्ति का रास्ता अवरुद्व न कर दे।'' (वही, पेज.**309,** पैरा. **III**)

बुर्जुआ चिंतकों को ऐतिहासिक विकास का सबसे आम कारक मानव चरित्र दिखाई देता है। वे इतिहास को इसी रूप में व्यक्त करने के आदी होते हैं। वे इसी तरीके से अपने युग से घटनाओं का विश्लेषण करते हैं। वे इसी ढंग से अपने युग की जटिल परिघटनाओं की व्याख्या करते हैं। इस बात का जवाब देते हुए प्लेखानोव लिखते हैं :

> ''यह नहीं माना जा सकता कि ऐतिहासिक विकास का अंतिम और सबसे आम कारक मानव चरित्र है। यदि यह नियत है तो यह लगातार बदलते इतिहास की गति की व्याख्या नहीं कर सकता, यदि यह बदलता रहता है तो स्वभावतः ही यह बदलाव स्वयं ऐतिहासिक विकास से तय होते हैं। अब हमें मानव जाति के ऐतिहासिक विकास का अंतिम और सबसे आम कारक उत्पादक शक्तियों को मानना चाहिए और यह उत्पादक शक्तियों का विकास है जो मनुष्यों के बीच के सामाजिक सम्बन्धों में लगातार

परिवर्तन को तय करता है। इस ***आम*** कारक के समानान्तर कुछ ***विशिष्ट*** कारक भी काम करते हैं यानी, वह ***ऐतिहासिक स्थिति*** जिसमें किसी जन समूह की उत्पादक शक्तियों का विकास होता है और जो स्वयं अंततः उन्हीं शक्तियों के विकास से पैदा होता है। ... ... '' (वही, पेज **313-314,** पैरा **III ,** जोर मूल में)

इस तरह से हम व्यक्ति की इतिहास की भूमिका के बारे में एंगेल्स व प्लेखानोव की मुख्य बातों को क्रम से रखेंगे तो वे ये बनेंगी।

पहली, कोई भी प्रतिभावान या महान व्यक्ति सामाजिक सम्बन्धों का उसी तरह से उत्पाद है जैसे कोई साधारण व्यक्ति।

दूसरी, किसी भी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह तभी घटनाओं पर प्रभाव डाल सकता है जब उसकी प्रतिभा उसके युग की निश्चित आवश्यकताओं की पूर्ति करती हो।

तीसरी, मानव जाति का विकास सबसे अंतिम और आम कारक उत्पादक शक्तियों का विकास है। उत्पादक शक्तियों का विकास ही मनुष्यों के बीच के सामाजिक सम्बन्धों में लगातार परिवर्तन को तय करता है।

अंत में उत्पादक शक्तियों व उत्पादन सम्बन्धों (सामाजिक सम्बन्धों) में द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध होता है। उत्पादक शक्तियों के विकास के लिए किसी विशेष समय (क्रांति की आवश्यकता को व्यक्त करने वाले काल) में यह आवश्यक हो जाता है कि उत्पादन सम्बन्धों में बदलाव किया जाय। समाजवाद में उत्पादक शक्तियों के विकास के लिए यह अत्यन्त आवश्यक होता है कि उत्पादन सम्बन्धों में निरन्तर परिवर्तन हो। या दूसरे शब्दों में वर्ग संघर्ष जारी रखा जाय। लेख के खास संदर्भ में इस वर्ग संघर्ष के निशाने पर ''नया'' और ''पुराना'' दोनों व्यक्तिवाद होता है। नया व्यक्तिवाद जहां समाजवाद में निरन्तर जन्म ले रहे नये ''पूंजीवाद'' से जुड़ा होता है जबकि पुराना व्यक्तिवाद अभी भी मौजूद छोटे पैमाने के उत्पादन के साथ–साथ पुरानी आदतों, स्वभाव, विचारों, कार्यशैली आदि के रूप में प्रकट होता रहता है। इसी तरह से समाजवाद में इस वर्ग संघर्ष के निशाने पर वह अ–व्यक्तिवाद भी होता है जिसके पैदा होने की जमीन व सम्भावना पूरे समाजवादी काल में होती है। और यह सम्भावना तब तक मौजूद रहती है कि जब तक राज्य का अस्तित्व रहता है।

बीसवीं सदी के समाजवाद के अनुभवों से यह बात स्थापित हो चुकी है कि समाजवादी निर्माण के पूरे काल में वर्ग संघर्ष को जारी रखना होता है। इसके जरिये ही यह प्रयास करना होता है कि राज्य के कामों में निरन्तर बढ़ती जन भागीदारी आवश्यक हो ताकि शनैः शनैः राज्य अपनी विलुप्त होने की अवस्था में पहुंचे। राज्य के कामों में घटती जन–भागीदारी और रुचि समाजवाद में अ–व्यक्तिवाद या दूसरे शब्दों में सामाजिक–फासीवाद को जन्म दे देती है। इसका कारण वही है जिसकी ऊपर चर्चा की गयी है–वर्ग संघर्ष को जारी रखना। समाजवाद में उत्पादन सम्बन्धों का निरंतर बदलना होता है। यह सब इसलिए ताकि उत्पादक शक्तियों का विकास ''प्रचुरता'' की उस अवस्था तक हो सके जिसे साम्यवाद कहा जाता है।